५३६. अनभिहिते २।३।१॥

इत्यधिकृत्य।

अनभिहिते। न अभिहितम् अनभिहितं, तस्मिन् अनभिहिते, नञ्तत्पुरुषः। अनभिहिते इति सप्तम्यन्तमेकपदमधिकारसूत्रम्। अभि-पूर्वक धा-धातु से क्त-प्रत्यय करने पर **दधातेर्हिः** सूत्र से **हि** आदेश होकर **अभिहितम्** बनता है। यह अधिकार है। इसका अधिकार द्वितीय अध्याय के तृतीयपाद की समाप्ति पर्यन्त है, तथापि यह कारक विभक्तियों में ही प्रभावी है, उपपद विभक्तियों में नहीं। अभिहित-शब्द का अर्थ है- **उक्त।** तद्विपरीत **अनुक्त** को **अनभिहित** कहते हैं। इस तरह **उक्त** और **अभिहित** पर्याय शब्द हैं और **अनुक्त** और **अनभिहित** भी पर्याय शब्द हैं। यह अधिकार तत्तत् सूत्रों में जाकर अनुक्त कर्म आदि कारकों में ही वक्ष्यमाण विभक्तियाँ हों, ऐसा अर्थ उपस्थापित करता है। **उक्त** का सामान्यलक्षण है- **यस्मिन् (अर्थे) प्रत्ययः, स उक्तः** अर्थात् जिस वाक्य की क्रिया में कर्ता, कर्म आदि अर्थ में प्रत्यय होता है, वे कर्ता, कर्म आदि उक्त हो जाते हैं और उस वाक्य में एक के उक्त हो जाने से अन्य सभी अनुक्त ही रहते हैं। **अभिहित, अभिधान, उक्तता** आदि की व्याख्या अगले सूत्र में की जा रही है।

५३७. कर्मणि द्वितीया २।३।२॥

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति।

अभिहिते तु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव। अभिधानं तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्- हरिः सेव्यते। कृत्- लक्ष्म्या सेवितः। तद्धितः- शतेन क्रीतः शत्यः। समासः- प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। यथा- 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।' साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः।

कर्मणि द्वितीया। कर्मणि सप्तम्यन्तं, द्वितीया प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अनभिहिते** का अधिकार है। **अभिहित** का अर्थ **उक्त** होता है, न अभिहितः=अनभिहितः= अनुक्तस्तस्मिन् अनभिहिते।

अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

अनुक्त कर्म अर्थात् जिस कर्म-रूप अर्थ को **कृत्, तिङ्** आदि के द्वारा न कहा गया हो अर्थात् **कर्म** अर्थ में **कृत्** आदि प्रत्यय न हुए हों, वह। **यस्मिन् प्रत्ययः स उक्तः।** जिस अर्थ में प्रत्यय होता है, वह उक्त होता है। मोटे तौर पर जैसे- **रामः पुस्तकं पठति** इस वाक्य में **पठ्** धातु से लट् लकार **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** के द्वारा **कर्ता** अर्थ में हुआ। इसलिए इस वाक्य का कर्ता **उक्त** हुआ। एक **उक्त** होता है तो शेष स्वतः **अनुक्त** हो जाते हैं। इसलिए इस वाक्य में जो **कर्मवाचक** शब्द है **पुस्तक**, वह अनुक्त हुआ। कर्म के अनुक्त होने पर **कर्मणि द्वितीया** इस सूत्र के द्वारा द्वितीयाविभक्ति का विधान होता है तो **पुस्तक** से द्वितीया विभक्ति हुई- **पुस्तकम्**। इसी तरह सभी जगह समझना चाहिए। उक्त और अनुक्त की व्यवस्था को भलीभाँति समझ लेना अत्यावश्यक है।

पहले तो कर्म क्या है यह जानना और उसके बाद कर्म उक्त है कि अनुक्त यह जानना चाहिए। कर्ता अर्थ में प्रत्यय हुआ है तो कर्ता उक्त तथा कर्म अनुक्त होता है और कर्म अर्थ में प्रत्यय हुआ है तो कर्म उक्त तथा कर्ता अनुक्त होता है। कर्ता उक्त है तो कर्म आदि सारे स्वतः अनुक्त हो जायेंगे। इस सूत्र से अनुक्त कर्म में ही द्वितीया विभक्ति होती है। यदि कर्म ही उक्त हो जाय तो कर्म में द्वितीया विभक्ति नहीं हो पाती। कर्म के उक्त हो जाने के बाद तो **प्रातिपदिकार्थमात्र** में प्रथमा विभक्ति ही होती है।

(देवदत्तः) हरिं भजति। देवदत्त हरि को भजता है। इस वाक्य में **भज्** धातु से लट् लकार अर्थात् **ति** कर्ता अर्थ में हुआ, अतः कर्ता **उक्त** है। कर्ता के उक्त होने से **कर्म** स्वतः **अनुक्त** हो जायेगा। इस वाक्य का **कर्म** क्या है? इस प्रश्न पर हमने **कर्तुरीप्सिततं कर्म** से पूछा तो उसने कहा- **क्रिया के द्वारा सम्बद्ध होने में कर्ता को जो अत्यन्त इष्ट है, वही कर्म है।** यहाँ पर **कर्ता देवदत्त** भजनक्रिया के द्वारा **हरि** को प्राप्त करना चाहता है, अर्थात् उससे सम्बद्ध होना चाहता है, इसलिए **हरि** यह **कर्म** हुआ। **कर्म अनुक्त** है इसलिए हरि में **कर्मणि द्वितीया** से **द्वितीया** विभक्ति हुई। **हरि** से **अम्** और **अमि पूर्वः** से पूर्वरूप होकर **हरिम्** सिद्ध होता है। **मकार** को **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार होकर **वा पदान्तस्य** से वैकल्पिक परसवर्ण हो जाता है तो **हरिम्भजति** बनता है। परसवर्ण न होने के पक्ष में **हरिं भजति।**

अभिहिते तु कर्मणि प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमैव। यदि कर्म अनुक्त न होकर उक्त होता है तो **अभिहिते तु कर्मणि**=उस उक्त कर्म में प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति ही होती है अर्थात् कर्म के अनुक्त होने पर द्वितीया विभक्ति और उसके उक्त होने पर प्रथमा विभक्ति होती है। जब कोई विभक्ति प्राप्त न हो तो भी प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति हो जायेगी। जैसे **हरिः सेव्यते** इस वाक्य में सेव् धातु से कर्म अर्थ में प्रत्यय हुआ है, अतः कर्म उक्त हुआ। इसी प्रकार **लक्ष्म्या सेवितो हरिः** में क्त-प्रत्यय **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** से कर्म अर्थ में हुआ है। अतः कर्म के उक्त होने के कारण प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है।

अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। कोई भी कारक अभिहित=उक्त प्रायः तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के द्वारा होता है। **अभिहित** का अर्थ है कथित, उक्त। आखिर कर्म आदि किसके द्वारा उक्त होते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में मूल में यह वाक्य कहा गया है। अर्थात् तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के द्वारा कर्म निर्दिष्ट होने पर **अभिहित** (उक्त, कथित) और न होने पर **अनभिहित** (अनुक्त) माने जाते हैं।

तिङ्कृत्तद्धितसमासैः परिसंख्यानम् इस तरह भाष्यकार ने परिगणन किया है। अतः इन्हीं से अभिहित को ही वस्तुतः अभिहित मानते हुये उस कारक में द्वितीयादि विभक्तियाँ नहीं की जाती, इनके अतिरिक्त अन्य से उक्त होने पर तो हो जाती है। अत एव **कटं भीष्मं कुरु** इत्यादि स्थल- जहाँ पर अनुक्त कर्म का विशेषण भी विद्यमान हो, वहाँ विशेषण से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। अन्यथा विशेष्य के द्वारा कर्म के उक्त हो जाने पर पुनः उसी अर्थ में (कर्मकारक में) विशेषण से द्वितीया विभक्ति न हो पाती।

अब **उक्त** का क्रमशः उदाहरण दिया जा रहा है।

हरिः सेव्यते। हरि की सेवा की जाती है अथवा हरि सेवित होते हैं। यहाँ **सेव्** धातु से **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** सूत्र के द्वारा लकार **कर्म** अर्थ में हुआ है। अतः **हरिः सेव्यते** वाक्य का कर्म लकार=तिङ् के द्वारा उक्त हो गया है। **भावकर्मणोः** सूत्र के द्वारा आत्मनेपद भी हो गया है- **सेव्यते।** अनुक्त कर्म में द्वितीया होती है किन्तु उक्त कर्म होने पर तो **प्रातिपदिकार्थमात्र** में प्रथमा ही होगी। यहाँ पर तिङ् के द्वारा उक्त कर्म और वाक्य में प्रयुक्त कर्मपद के साथ सामानाधिकण्य हो जाता है। अतः कर्म-भूत **हरि** शब्द से प्रथमा हो गयी- **हरिः सेव्यते।** इस वाक्य में कर्ता का अध्याहार करना होगा। अतः **भक्तेन हरिः सेव्यते** वाक्य बन जायेगा। इस वाक्य का कर्ता **भक्त** है। **यस्मिन् प्रत्ययः स उक्तः** की रीति से कर्म के उक्त होने के कारण कर्म के अतिरिक्त सभी अनुक्त हो जाते हैं, अतः कर्ता भी अनुक्त हो गया है। कर्ता के अनुक्त होने पर **कर्तृकरणयोस्तृतीया** से तृतीया विभक्ति होकर **भक्तेन** बन गया है। इस तरह यह कर्मवाच्य का प्रयोग है। इसी प्रकार समस्त कर्मवाच्य प्रयोगों में समझना चाहिये।

लक्ष्म्या सेवितः (हरिः)। लक्ष्मी के द्वारा सेवित हरि। यहाँ **सेव्** धातु से **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** के अनुसार **निष्ठा** सूत्र से कर्म में **क्त** प्रत्यय (इट् आगम) होकर **सेवितः** बना है। अतः **लक्ष्म्या सेवितः** वाक्य का कर्म कृत्संज्ञक प्रत्यय **क्त** के द्वारा उक्त हो गया है। अनुक्त कर्म में द्वितीया होती है किन्तु **उक्त** कर्म होने पर तो **प्रातिपदिकार्थमात्र** में प्रथमा ही होगी। यहाँ पर कृत् के द्वारा उक्त कर्म और वाक्य में प्रयुक्त कर्म के साथ सामानाधिकण्य हो जाता है। अतः कर्म-भूत **हरि** शब्द तथा उसके क्रियापद **सेवितः** में प्रथमा विभक्ति हो गयी- **लक्ष्म्या सेवितो हरिः।** इस वाक्य में कर्म का अध्याहार करना होगा। अतः **लक्ष्म्या सेवितो हरिः** वाक्य बन जायेगा। इस वाक्य में कर्तृपद **लक्ष्मीः** है। **यस्मिन् प्रत्ययः स उक्तः** की रीति से कर्म के उक्त होने के कारण कर्म के अतिरिक्त सभी अनुक्त हो जाते हैं, अतः कर्ता भी अनुक्त हो गया है। कर्ता के अनुक्त होने पर **कर्तृकरणयोस्तृतीया** से तृतीया विभक्ति होकर **लक्ष्म्या** बन गया है। इसी तरह अन्य कर्म अर्थ होने वाले क्त आदि प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग वाले सभी वाक्यों में समझना चाहिये।

शतेन क्रीतः शत्यः। सौ से खरीदा गया पदार्थ। यहाँ पर **शत** शब्द से **तेन क्रीतम्** के अर्थ में **शताच्च ठन्यतावशते** सूत्र से तद्धितीय **यत् (य)** प्रत्यय होकर **शत्यः** बना है। जो पदार्थ खरीदा गया, वह कर्म ही होगा, क्योंकि यहाँ पर **शत्य** में **कर्तृनिष्ठव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयरूपकर्मत्व** है किन्तु यह कर्म तद्धित से उक्त हो गया है। वह इस प्रकार कि **क्री** धातु से कर्म अर्थ में क्त-प्रत्यय होकर **क्रीतः** बनता है, उस अर्थ में ही तद्धित यत्-प्रत्यय हुआ है। अतः इस तद्धित के द्वारा परम्परया कर्मार्थ उक्त माना जाता है।। इस तरह कर्म के उक्त होने पर कर्ता आदि सभी अनुक्त हो जाते हैं। अतः यहाँ पर उक्त कर्म में द्वितीया नहीं होगी।

प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। (आनन्दकर्तृक प्राप्तिकर्म) जिसको आनन्द प्राप्त हो गया है। यहाँ पर **अनेकमन्यपदार्थे** सूत्र से बहुव्रीहि समास हो गया है। **प्राप्त** शब्द में **गत्यर्थाकर्मकश्लिशशीङस्थासवसजनरूहजीर्यतिभ्यश्च** सूत्र से कर्ता अर्थ में क्त

प्रत्यय हुआ है। अतः आनन्द कर्ता है और **कर्तृनिष्ठव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयरूपकर्मत्व** अन्यपदार्थ में होने से अन्य पदार्थ **प्राप्तानन्द** कर्म है। किन्तु कर्म के उक्त होने के कारण द्वितीया विभक्ति नहीं होती।

पूर्वोक्त सभी स्थानों पर कर्म अभिहित होने से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा हुई है।

ऊपर दीक्षित जी ने **अभिधानं च प्रायेण** वाक्य में जो **प्रायेण** शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य यह है कि प्रायः तो तिङ्, कृत्, तद्धित, समास से उक्त होता है किन्तु कहीं-कहीं अन्य तरीके से भी उक्त हो जाता है। वह अन्य तरीका क्या है? आगे देखें-

क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। कहीं-कहीं निपात के द्वारा भी कर्म का **अभिधान** (उक्त) हो जाता है। उदाहरण आगे है-

वृषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुम् असाम्प्रतम्। यह नीतिश्लोक है। श्लोकार्थः- विषवृक्ष का भी संवर्धन यदि स्वयं के द्वारा किया गया तो उसका स्वयं ही छेदन करना अनुचित है। **साम्प्रतम्** का अर्थ **युज्यते**=उचित है, ऐसा होता है और **न साम्प्रतम्=असाम्प्रतम्** का अर्थ **न युज्यते**=उचित नहीं है, ऐसा होता है। **असाम्प्रतम्=न युज्यते** यह प्रधानक्रिया है, **विषवृक्षः** का अन्वय **असाम्प्रतम्** के साथ ही होता है किन्तु **संवर्ध्य** और **छेत्तुम्** के साथ भी अन्वय होता ही है। यहाँ विषवृक्ष संवर्धनक्रिया का कर्म है परन्तु **अपि** इस निपात के द्वारा वह कर्म उक्त हो जाता है। **चादि** के आकृतिगण होने के कारण **असाम्प्रतम्** भी चादिगण के अन्तर्गत माना जाता है और उसकी **चादयोऽसत्त्वे** से निपातसंज्ञा हो जाती है तथा **विषवृक्ष** शब्द का **असाम्प्रतम्** के साथ योग होने के कारण **विषवृक्ष** उक्त निपात से ही **अभिहित** हो जाता है। फलतः कर्म के अभिहित (उक्त) हो जाने से **विषवृक्ष** में **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया नहीं होती किन्तु **प्रातिपदिकार्थमात्र** में प्रथमा होकर **विषवृक्षः** बन जाता है।

'साम्प्रतम्' इत्यस्य हि 'युज्यते' इत्यर्थः। उपर्युक्त श्लोक में पठित **असाम्प्रतम्** शब्द में **साम्प्रतम्** का **युज्यते**=उचित होता है, यह अर्थ है। फलतः नञ्समासयुक्त **असाम्प्रतम्** का **न युज्यते**=उचित नहीं होता, यह अर्थ बनेगा।

वास्तव में देखा जाय तो यह निपात के द्वारा कर्म उक्त होने का उदाहरण ही नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य में **छेत्तुम्** का तात्पर्य **छेत्तुम् इष्यते** है अर्थात् **इष्यते** क्रिया का स्वाभाविक रूप से अध्याहार होता है। ध्यान रहे कि तुमुन्-प्रत्यय क्रियार्था क्रिया में ही सम्भव है। जब तक आगे कोई दूसरी क्रिया न होगी, तब तक पूर्वक्रियावाचक पद का तुमुन्नन्तनिर्देश उचित नहीं। इस प्रकार **छेत्तुम्** प्रयोग की शुद्धता के लिये **इष्यते** इस पद का अध्याहार किया जायेगा, जिसमें कर्म अर्थ में तिङ्-प्रत्यय किया गया है। अतः इस तिङ के द्वारा **विषवृक्ष** रूपी कर्म उक्त होने से यह **तिङा अभिहित** कर्म का ही उदाहरण बन गया है। इस तरह प्रदत्त वाक्य का तात्पर्यार्थ बनता है- **विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य छेत्तुमिष्यते इति यदस्ति तदसाम्प्रतम्।**

५३८. तथायुक्तं चानीप्सितम् १।४।५०॥

ईप्सिततमवत्क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात्।

ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।

तथायुक्तं चानीप्सितम्। तथायुक्तं प्रथमान्तं, च अव्ययपदम्, अनीप्सितं प्रथमान्तं, त्रिपदं सूत्रम्। **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** यह सम्पूर्ण पूर्वसूत्र अनुवृत्त होता है। **कारके** का अधिकार है। इस सूत्र के **तथा** पद से पूर्व सूत्र **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** में कथित विषय का परामर्श होता है।

ईप्सिततम कर्म की तरह ही जो अनीप्सित होते हुए भी कर्ता की क्रिया से युक्त है तो उस अनीप्सित कारक की भी कर्मसंज्ञा होती है।

अनीप्सित का अर्थ है- जो इष्ट न हो। यहाँ पर्युदासप्रतिषेध है। सूत्रस्थ **तथा** शब्द सादृश्यवाची है। इस शब्द का सम्बन्ध पूर्वशास्त्र में पठित **ईप्सततम** शब्द के साथ है। इसका अर्थ है- **ईप्सिततम के समान**। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार कर्ता की क्रिया से युक्त ईप्सिततम कारक की कर्म सञ्ज्ञा होती है, उसी प्रकार कर्ता की क्रिया से युक्त अनीप्सित कारक की भी कर्मसञ्ज्ञा होती है। अनीप्सित कर्म दो प्रकार का होता है- **द्वेष्य** और **उपेक्ष्य (उदासीन)**। उन्हीं की कर्मसंज्ञा के लिये इस सूत्र का अवतरण है, क्योंकि पूर्वसूत्र से ईप्सिततम=अतिशय इष्ट की कर्मसंज्ञा होने के कारण द्वेष्य और उपेक्ष्य की कर्मसंज्ञा प्राप्त नहीं थी।

ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति। देवदत्त गाँव को जाता हुआ तिनके को छूता है। मुख्य क्रिया **जाना** है और अमुख्य क्रिया **छूना** है। यहाँ गमनरूप प्रधान धात्वर्थ व्यापार से युक्त होने के कारण ईप्सिततम कर्म **ग्राम** है, अतः उसकी पूर्वसूत्र से ही कर्मसंज्ञा हो जाती है किन्तु गाँव जाते हुए तिनके को **छूना** (कर्ता का यह स्पर्श रूप अप्रधान धात्वर्थ व्यापार) तो ईप्सित नहीं है। गमन करते हुए

स्पर्श क्रिया भी सहसा हो जाती है। स्पर्शक्रिया से युक्त **तृण** कर्ता की अप्रधान-क्रिया से प्रयोज्य फल का आश्रय होने के कारण अनीप्सित है। अब उसमें कौन सी विभक्ति हो सकती है? इसी समस्या के समाधान के लिए **तथायुक्तं चानीप्सितम्** सूत्र आकर अनीप्सित कारक **तृण** की भी कर्मसंज्ञा करता है जिससे **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया विभक्ति होकर **तृणम्** बन जाता है। यह **उपेक्ष्य** कर्म माना जाता है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं। यह उपेक्ष्य (उदासीन) कर्म का उदाहरण है।

द्वेष्य कर्म का उदाहरण-

ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते। भात खाता हुआ विष भी खाता है। मुख्य क्रिया **भुङ्क्ते** है और अमुख्य क्रिया **भुञ्जानः** है। अतः प्रधान-व्यापार-प्रयोज्य फल का आश्रय होने से ईप्सिततम कर्म **ओदन** की पूर्वसूत्र से ही कर्मसंज्ञा हो जाती है किन्तु भात खाते हुये के लिये **विष** तो इप्सित नहीं है। किसी बलवान् शत्रु के द्वारा भोजन के साथ विष खिला दिया गया है। अतः **विष** कर्ता अनीप्सित है। अब उसमें कौन सी विभक्ति हो सकती है? इसी समस्या के समाधान के लिए **तथायुक्तं चानीप्सितम्** सूत्र आकर अनीप्सित कारक **विष** की भी कर्मसंज्ञा करता है जिससे **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया विभक्ति होकर **विषम्** बन जाता है। यह **द्वेष्य** कर्म माना जाता है।

वास्तविकता तो यह है कि यहाँ **विष** भी भोजनरूप प्रधान-धात्वर्थ-व्यापार से प्रयोज्य गलविवरसंयोग रूपी फल का आश्रय होने से **ईप्सिततम** ही माना जायेगा और **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीया स्वतः सिद्ध है। इस लिये इसका वास्तविक उदाहरण तो भाष्य में **ग्रामान्तरमयं गच्छन् अहिं लङ्घयति** इत्यादि है। यहाँ लङ्घन-क्रिया कर्ता की अप्रधान क्रिया है, अतः उससे प्रयोज्य फल का आश्रय होने से **अहि** (सर्प) अनीप्सित (द्वेष्य) कर्म है, फलतः पूर्वसूत्र उसकी कर्मसंज्ञा प्राप्त न होने के कारण प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा की गयी है। कर्मसंज्ञा के बाद तो द्वितीया होना सुनिश्चित ही है।

इस तरह **ईप्सिततम, ईप्सित** और **अनीप्सित** कर्म का विवेचन हुआ। निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य के रूप में विद्यमान **ईप्सिततम** की **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** से कर्मसंज्ञा हो जाती है। **ईप्सित** की कर्मसंज्ञा किसी सूत्र से नहीं होती और द्वेष्य और उपेक्ष्य के रूप में विद्यमान **अनीप्सित** की **तथायुक्तं चानीप्सितम्** सूत्र से कर्मसंज्ञा हो जाती है। इसके अतिरिक्त अकथित (संज्ञान्तर से अनाख्यात) कर्म भी है, जिसका उल्लेख आगे किया जा रहा है।

५३९. अकथितं च १।४।५१॥

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात्।

दुह्याच्यच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्।

कर्मयुक्स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्॥

'दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्म' इति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः। गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं याचते। तण्डुलानोदनं पचति। गर्गाञ्छतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षमवचिनोति। फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्तीत्यादि। कारकं किम्? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति।

'अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसञ्ज्ञक इति वाच्यम्' (वा.११०३-११०४)। कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोहमास्ते। क्रोशमास्ते।

अकथितं च। अकथितं प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** से **कर्म** की अनुवृत्ति आती है और **कारके** का अधिकार है।

अपादान आदि संज्ञाओं के द्वारा अविवक्षित कारक कर्मसंज्ञक होता है।

अकथित का तात्पर्य है सामान्यतः **न कहना** अथवा कहने की इच्छा न करना परन्तु यहाँ तत्तत् रूपों में अभासमान यह तात्पर्य है। किन-किन रूपों में बोलें तो- **अपादान, सम्प्रदान, अधिकरण** के रूपों में। यदि वक्ता की तत्तत् कारक के रूप में कहने की इच्छा न हुई तो उन कारकों को **अकथित** कहा जायेगा। ऐसे अकथित कारकों के स्थल पर सम्बन्ध-सामान्य की विवक्षा में

षष्ठी शेषे सूत्र से षष्ठी हो रही थी, उसे बाधकर इस सूत्र से कर्मसंज्ञा हो जायेगी। इस तरह सूत्र का तात्पर्य हुआ कि अपादान, सम्प्रदान आदि रूपों में अभासमान (अप्रतीयमान) होते हुये जो कर्मत्वेन विवक्षित हो, उसकी कर्मसंज्ञा होगी। चूँकि **अकथित** का तात्पर्य यहाँ तत्तद्रूपेण अभासमान है और यह दो स्थितियों में सम्भव है। प्रथम- तत्तद्-रूपेण प्राप्ति होने पर अविवक्षा के कारण उस रूप में भासित न होना और द्वितीय- सर्वथ उस रूप में भासित न होना। इन दोनों ही स्थितियों में प्रकृत सूत्र प्रवृत्त होता है।

इस प्रकार से सभी **अकथित** की कर्मसंज्ञा प्राप्त हो रही थी तो इसके लिए **दुह्याच्पच्दण्ड्०** इस श्लोक के द्वारा नियम बनाया कि- **जिस किसी भी धातु के योग में अकथितों की कर्मसंज्ञा नहीं होती किन्तु दुह्, याच्, पच्, दण्ड्, रुध्, प्रच्छ्, चि, ब्रू, शास्, जि, मथ्, मुष्, नी, ह्, कृष्, वह् इन धातुओं के योग में ही जो कर्मयुक् होते हुय अकथित अर्थात् वक्ता के द्वारा अपादान आदि के रूप में अविवक्षित हों उनकी कर्मसंज्ञा होती है, अन्यों की नहीं।** इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अपादान आदि विभक्तियाँ होंगी ही नहीं। वे विभक्तियाँ तो होती ही हैं किन्तु जब वक्ता के द्वारा अपादान आदि तत्तद् रूप में कहने की इच्छा नहीं की जाती और कर्मत्वेन विवक्षा होती है, तब इस सूत्र के द्वारा उनकी कर्मसंज्ञा की जायेगी।

विशेषः- उक्त श्लोक में **कर्मयुक्** पद आया है। उसका तात्पर्य है कि- (गृहीत) धात्वर्थ व्यापार होने से पूर्व या फिर बाद में भी जो कारक उस धात्वर्थ-व्यापार के कर्म से युक्त हो, वह अकथित कहलाता है। इन परिगणित धातुओं में **ब्रूञ्, शास्** को छोड़कर सर्वत्र अकथित धात्वर्थ-व्यापार से पहले ही कर्मयुक् मिलेगा। अतः सति सम्भवे धात्वर्थ-व्यापार से पूर्व कर्मयुक् को ही अकथित मानना चाहिये। इसका फल यह मिलता है कि **गां पयो दोग्धि स्थाल्याम्** में अधिकरण **स्थाली** की अधिकरणत्वेन अविवक्षा होने पर भी उसकी कर्मसंज्ञा नहीं होगी, क्योंकि यह (स्थाली) धात्वर्थ-व्यापार (दोहन) के बाद ही कर्मयुक् हो सकता है, जबकि यहाँ धात्वर्थ-व्यापार से पूर्व ही कर्मयुक् **गौः** है तो मात्र उसी की ही अपादानत्वेन अविवक्षित होने पर कर्मसंज्ञा होगी।

यह श्लोक दीक्षित जी का अपना है, भाष्य के श्लोक में कुछ भिन्नता है, जो आगे बता रहे हैं-

'दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युच्यते तदेवाकथितं कर्म' इति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः। उपर्युक्त श्लोक का भाव लिख रहे हैं कि दुह् आदि बारह धातुयें और नी आदि चार धातुओं का जो कर्म, उसके साथ जो युक्त होता है, उसी को अकथित कहते हैं और ऐसी धातुओं का परिगणन श्लोक से किया गया है। ऐसी धातुयें द्विकर्मक (दो कर्म वाली) कहलाती हैं। एक मुख्य कर्म होगा और दूसरा अकथित गौण कर्म। **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** से प्रधान कर्म की कर्मसञ्ज्ञा होती है, इन धातुओं के प्रधान कर्म से सम्बन्ध रखते हुये जो क्रिया से सम्बद्ध होता है, वही गौण कर्म है और उनकी कर्मसंज्ञा **अकथितं च** से होती है। उदाहरण आगे दिये गये हैं।

महाभाष्य के अनुसार श्लोकवार्तिक का स्वरूप इस प्रकार है-

'दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना'॥

इसका अर्थ है- दुह्, याच्, रुध्, भिक्ष् तथा चिञ्- इन धातुओं के उपयोग का जो निमित्त, उसकी अपूर्व विधि में कर्म सञ्ज्ञा होती है। जैसे कि **दुह्** धातु का उपयोग **दुग्ध** है और इसका निमित्त है **गो।** इस निमित्त के अकथित होने पर इसकी कर्मसञ्ज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार **ब्रू** तथा **शास्** धातुओं के प्रधान कर्म से जो सम्बन्धित है, उसे भी कवि आचार्य ने अकथित कहा है। जैसे कि **ब्रू** धातु का प्रधान कर्म है- **धर्म**। इससे सम्बन्धित **माणवक** है। अतः इसके अकथित होने से इसी की कर्मसञ्ज्ञा हो जाती है।

यद्यपि प्रकृत कारिका में द्विकर्मक आठ धातुओं का ही निर्देश है और पच्, मथ्, मुष्, दण्ड्, जि, नी, ह्, कृष तथा वह् का निर्देश नहीं है तथापि इन धातुओं का ग्रहण कारिका में **च** पद के योग के द्वारा कर लिया जाता है। यह बात भाष्य के व्याख्याता **कैयट** ने भी मानी है।

देवदत्तो गां पयः दोग्धि (देवदत्त गाय से दूध दुहता है) इस वाक्य में **कर्ता** है **देवदत्त**, क्रियापद है **दोग्धि** (दुह् धातु, अदादि, लट्, प्रथमपुरुष एकवचन), दोहनक्रिया द्वारा कर्ता को अत्यन्त अभीष्ट वस्तु है **पयः**=दूध। अतः **पयस्** को इष्टतम मानकर **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति पहले ही हो चुकी है। यद्यपि **गो** क्षरण क्रिया के प्रति अपादान है तथापि यहाँ वक्ता **गो** को अपादान के रूप में कहना नहीं चाहता अपितु **उपयुज्यमान पयः** के प्रति निमित्त मानता है। इस प्रकार अपादान के रूप में कहने की इच्छा न होने के कारण **गो** यह अविवक्षित हुआ। उसकी **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा हो गई और **कर्मणि द्वितीया** से द्वितीयाविभक्ति भी हो गई- **गां दोग्धि पयः।** यहाँ पर अपादान होने के कारण पञ्चमीविभक्ति होकर **गोः दोग्धि पयः** भी हो सकता है। दो कर्म हो जाने से एक प्रधान कर्म होगा जिसे **ईप्सिततम कर्म** कहते हैं और एक अप्रधान कर्म होगा जिसे

अकथित कर्म कहते हैं। दो कर्म होने के कारण यह धातु **द्विकर्मक** मानी जाती है। जिस वाक्य में **अकथितं च** की प्रवृत्ति होती है, उस वाक्य की धातु द्विकर्मक ही मानी जायेगी। ऐसे द्विकर्मक धातुओं की संख्या सोलह है। ये हैं- **दुह्, याच्, पच्, दण्ड्, रुध्, प्रच्छ्, चि, ब्रू, शास्, जि, मथ्, मुष्, नी, हृ, कृष्** और **वह्**।

(वामनः) बलिं याचते वसुधाम्। वामन भगवान् बलि से पृथ्वी माँगते हैं। कर्ता **वामन,** क्रिया **याचते**, इष्टतम कर्म **वसुधा** और अकथित कर्म **बलि** है। इष्टतम कर्म में कर्मसंज्ञा और द्वितीया विभक्ति तो निर्विवाद है ही। यहाँ पर अपादान होने के कारण पञ्चमीविभक्ति प्राप्त होकर **बलेः वसुधां याचते** ऐसा ही सम्भव हो रहा था किन्तु वक्ता के द्वारा अपादान के रूप में कहने की इच्छा न होने पर **अकथितं च** से **कर्मसंज्ञा** होकर **बलि** में द्वितीयाविभक्ति हुई। अतः **बलिं याचते वसुधाम्** भी बन गया।

(पाचकः) तण्डुलानोदनं पचति। रसोइया चावलों से भात पकाता है। कर्ता **पाचक,** क्रिया **पचति**, इष्टतम कर्म **ओदन** और अकथित कर्म **तण्डुल** है। यहाँ पर तण्डुल के करण होने के कारण तृतीया विभक्ति की सम्भावना है किन्तु वक्ता से अविवक्षित होने के कारण अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर तण्डुल में द्वितीयाविभक्ति हुई- **तण्डुलान् ओदनं पचति।** वस्तुतः इस वाक्य का तात्पर्य है- **तण्डुलान् विक्लेदयन् ओदनं पचति।** ऐसे में विक्लेदनक्रियाप्रयोज्य फल का आश्रय होने के कारण **तण्डुल** की **कर्तुरीप्सिततमं कर्म** से ही कर्मसंज्ञा सिद्ध है।

(प्रधानः) गर्गान् शतं दण्डयति। सरपंच गर्गों से सौ रुपये जुर्माना लगाता है। कर्ता **प्रधान**, क्रिया **दण्डयति**, इष्टतम कर्म **शत** और अकथित कर्म **गर्ग** है। यहाँ पर गर्ग में अपादान होने के कारण पञ्चमीविभक्ति की सम्भावना है किन्तु वक्ता से अविवक्षित होने के कारण अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर गर्ग में द्वितीयाविभक्ति हुई- **गर्गाञ्छतं दण्डयति।**

(कृष्णः) व्रजमवरुणद्धि गाम्। श्रीकृष्ण व्रज में गौ को रोकते हैं। कर्ता कृष्ण, क्रिया अवरुणद्धि, इष्टतम कर्म गौ और अकथित कर्म व्रज है। यहाँ पर व्रज में अधिकरण होने के कारण सप्तमीवभक्ति की सम्भावना है किन्तु वक्ता से अधिकरण अविवक्षित होने के कारण अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर व्रज में द्वितीयाविभक्ति हुई- **व्रजम् अवरुणद्धि गाम्।**

(पथिकः) माणवकं पन्थानं पृच्छति। पथिक बच्चे से मार्ग पूछता है। कर्ता पथिक, क्रिया पृच्छति, इष्टतम कर्म पन्था और अकथित कर्म माणवक है। यहाँ पर माणवक में अपादान की सम्भावना है किन्तु वक्ता से अपादान अविवक्षित होने से अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर माणवक में द्वितीयाविभक्ति हुई- **माणवकं पन्थानं पृच्छति।** यदि यहाँ विचार करें तो वाक्य का तात्पर्य इतना ही है कि **पथिक माणवक से मार्ग पूछता है।** ऐसे में केवल पथिक के व्यापार की प्रतीति हो रही है। माणवक बताता है या नहीं, यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा। यदि न बताये तो तन्निष्ठ ज्ञान का अपाय (विश्लेष) ही न होने से इसे अपादान नहीं माना जा सकता तथा सम्प्रदान और अधिकरण तो है ही नहीं। अतः सर्वथा अप्राप्तिमूलक अविवक्षा मानकर कर्मसंज्ञा करनी चाहिये।

(कृषकः) वृक्षमवचिनोति फलानि। कृषक वृक्ष से फल तोड़ता या चुनता है। कर्ता कृषक, क्रिया अवचिनोति, इष्टतम कर्म फल और अकथित कर्म वृक्ष है। यहाँ पर वृक्ष में अपादान होने के कारण पञ्चमीवभक्ति की सम्भावना है किन्तु वक्ता द्वारा अपादान अविवक्षित होने के कारण अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर वृक्ष में द्वितीयाविभक्ति हुई- **वृक्षम् अवचिनोति फलानि।**

(पिता) माणवकं धर्मं ब्रूते, शास्ति वा। पिता बच्चे को (ब्रह्मचारी के लिए) धर्म बताता है। ब्रू और शास् धातु का योग। कर्ता पिता, क्रिया ब्रूते और शास्ति, इष्टतम कर्म धर्म और अकथित कर्म माणवक है। यहाँ पर माणवक के सम्प्रदान होने के कारण चतुर्थी विभक्ति की सम्भावना है किन्तु वक्ता से सम्प्रदान अविवक्षित होने के कारण अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर माणवक में द्वितीया विभक्ति हुई- **माणवकं धर्मं ब्रूते, शास्ति वा।**

(यज्ञदत्तः) शतं जयति देवदत्तम्। यज्ञदत्त देवदत्त से सौ रूपये जीतता है। कर्ता यज्ञदत्त, क्रिया जयति, इष्टतम कर्म शत और अकथित कर्म देवदत्त है। यहाँ पर देवदत्त में अपादान होने के कारण पञ्चमीवभक्ति की सम्भावना है किन्तु वक्ता से अपादान अविवक्षित होने के कारण अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर देवदत्त में द्वितीयाविभक्ति हुई- **शतं जयति देवदत्तम्।**

(देवासुराः) सुधां क्षीरनिधिं मथ्नन्ति। देव और दानव अमृत के लिये क्षीरसागर मथते हैं। कर्ता देवासुर, क्रिया मथ्नन्ति, इष्टतम कर्म क्षीरसागर और अकथित कर्म अमृत है। यहाँ पर सुधा में सम्प्रदान होने के कारण चतुर्थी विभक्ति सम्भावना है किन्तु वक्ता से अविवक्षित होने के कारण अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर **सुधा** द्वितीया विभक्ति हुई- **सुधां क्षीरनिधिं मथ्नन्ति।** क्षीरनिधि तो इष्टतम कर्म होने उसमें कर्मसंज्ञापूर्वक द्वितीया स्वतः प्राप्त है।

(रामदेवः) देवदत्तं शतं मुष्णाति। रामदेव देवदत्त से सौ रुपये चुराता है। कर्ता रामदेव, क्रिया मुष्णाति, इष्टतम कर्म शत और अकथित कर्म देवदत्त है। यहाँ पर देवदत्त में अपादान होने के कारण पञ्चमीविभक्ति की सम्भावना है किन्तु वक्ता से अपादान अविवक्षित होने के कारण अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर देवदत्त में द्वितीया विभक्ति करके **देवदत्तं शतं मुष्णाति।**

(पशुपालः) ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति। पशुपालक गाँव में बकरी को ले जाता है। यहाँ नी, हृष्, कृष् और वह् चार धातुओं का प्रयोग है। कर्ता **पशुपाल,** क्रिया **नयति, हरति, कर्षति, वहति** तथा इष्टतम कर्म **अजा** और अकथित कर्म **ग्राम** है। यहाँ पर ग्राम के अधिकरण होने के कारण सप्तमीवभक्ति की सम्भावना है किन्तु वक्ता से अधिकरण अविवक्षित होने के कारण अकथित मानकर **अकथितं च** से कर्मसंज्ञा होकर ग्राम में द्वितीया विभक्ति हुई- **ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति वहति वा।**

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। इस **अकथितं च** सूत्र से की जाने वाली संज्ञा अर्थ पर आधारित है, न कि केवल धातुओं पर ही। सूत्र से जिन धातुओं के योग में कर्मसंज्ञा होती है, उन धातुओं का जो अर्थ, यदि वही अर्थ अन्य किसी धातु का भी हो तो उस धातु के योग में भी **अकथित कर्म** मान लिया जाता है। कैयट आदि आचार्यों ने इस तरह से व्याख्या की है। अतः यह प्रामाणिक है किन्तु नागेश आदि का इसमें मतभेद है। कैयट आदि के अनुसार **याच्** धातु का **माँगना** अर्थ है और **भिक्ष्** धातु का अर्थ भी **माँगना** ही है। इसलिए याच्-समानार्थक **भिक्ष्** धातु के योग में **कर्मसंज्ञा** होकर **बलिं भिक्षते वसुधाम्** बनता है। जैसे **ब्रू** धातु के योग में अकथित कर्म सम्भव है, उसी प्रकार से समानार्थक **भाष्, वच्, अभि+धा** के योग में भी अकथित मानकर कर्मसंज्ञा करके **माणवकं धर्मं ब्रूते, शास्ति** की तरह **माणवकं धर्मं भाषते, धर्मं वक्ति, धर्मम् अभिधत्ते** आदि भी बना सकते हैं।

विवक्षातः कारकाणि भवन्ति। यह एक न्याय है। कारक वक्ता की विवक्षा के अधीन होते हैं। भाव यह है कि वक्ता की जो विवक्षा होती है, उससे अनुसार ही प्रयोग होता है।

पूर्वोक्त सोलह धातुयें द्विकर्मक कही गयी हैं और कर्तृवाच्य में उनके क्रमशः उदाहरण दे दिये गये। कर्मवाच्य होने पर इन धातुओं के विषय में किस प्रकार व्यवस्था होनी चाहिए? यह विचारणीय है। **गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नीहृकृष्वहाम्।** अर्थात् कर्मवाच्य में **दुह्यादेः**=दुह् आदि बारह धातुओं से **गौणे कर्मणि**=गौणकर्म में लकार होते है और **नी, हृ, कृष्, वह्** धातुओं से प्रधानकर्म में लकार होता है। तात्पर्य यह है कि दुह् आदि बारह धातुओं से गौण कर्म में लकार होता है। ऐसी स्थिति में **गौण कर्म उक्त** हो जाता है। अनुक्त कर्म में द्वितीया तथा उक्त कर्म में प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा होती है, यह बात पहले बतायी जा चुकी है। अतः गौण कर्म में प्रथमा होगी तथा प्रधान कर्म में यथावत् अर्थात् द्वितीया ही होती है। इस तरह उपर्युक्त सोलह उदाहरणों के कर्मवाच्य में निम्नलिखित वाक्य बनते हैं-

कर्तृवाच्य	**कर्मवाच्य**
गां दोग्धि पयः	गौर्दुह्यते पयः।
बलिं याचते वसुधाम्।	बलिर्याच्यते वसुधाम्।
तण्डुलान् ओदनं पचति	तण्डुलाः पच्यन्ते ओदनम्।
गर्गान् शतं दण्डयति	गर्गाः शतं दण्ड्यन्ते।
व्रजम् अवरुणद्धि गाम्	व्रजोऽवरुध्यते गाम्।
माणवकं पन्थानं पृच्छति	माणवकः पन्थानं पृच्छ्यते।
वृक्षम् अवचिनोति फलानि	वृक्षोऽवचीयते फलानि।
माणवकं धर्मं ब्रूते	माणवको धर्मम् उच्यते।
माणवकं धर्मं शास्ति	माणवको धर्मं शिष्यते।
शतं जयति देवदत्तम्	शतं जीयते देवदत्तः।
सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति	सुधां क्षीरनिधिर्मथ्यते।
देवदत्तं शतं मुष्णाति	देवदत्तः शतं मुष्यते।

ये तो दुह् आदि बारह धातुओं के कर्मवाच्य के उदाहरण हैं। अब शेष चार धातुओं के विषय में इस तरह से व्यवस्था होगी- **प्रधाने नीहृकृष्वहाम्** अर्थात् नी, हृ, कृष् और वह् धातुओं के प्रधान कर्म में लकार होता है। ऐसी स्थिति में प्रधान कर्म में प्रथमा तथा गौण कर्म में यथापूर्व द्वितीया होती है।

कर्तृवाच्य	**कर्मवाच्य**
ग्रामम् अजां नयति	ग्रामम् अजा नीयते।
ग्रामम् अजां हरति	ग्रामम् अजा ह्रियते।
ग्रामम् अजां कर्षति	ग्रामम् अजा कृष्यते।
ग्रामम् अजां वहति	ग्रामम् अजा उह्यते।

कारकं किम्? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति। अर्थात् प्रकृतसूत्र में **कारके** इस के अधिकार की क्या आवश्यकता है? उक्त अधिकार का प्रयोजन है कि अपादानादि के द्वारा अविवक्षित जो कारक, उसकी ही कर्मसञ्ज्ञा हो किन्तु कारकभिन्न की कर्म न हो। अतः **माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति** (बालक के पिता से मार्ग पूछता है) इस वाक्य में **पथिन्** प्रधान कर्म है और द्विकर्मक **प्रच्छ्** धातु का योग है। अपादान कारक की अविवक्षा में **पितृ** की कर्मसञ्ज्ञा हुई किन्तु **माणवक** शब्द यहाँ सम्बन्धवाची है और सम्बन्ध कारक नहीं होता है। अतः माणवक की कर्मसञ्ज्ञा नहीं होती। फलतः सम्बन्ध में षष्ठी होकर **माणवकस्य** बन जाता है। **कारके** के अधिकार के अभाव में तो अकारक की भी कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया होने की आपत्ति होती।

अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसञ्ज्ञक इति वाच्यम्। यह वार्तिक है। वार्तिकार्थः- अकर्मक धातुओं के योग में देश, समय, भाव तथा गन्तव्यमार्ग को बतलाने वाले शब्दों की अपादानादि कारकों की अविवक्षा में कर्मसञ्ज्ञा होती है, ऐसा कहना चाहिये। देश-शब्द से स्थान विवक्षित है। यद्यपि **भाव** का सामान्य अर्थ क्रिया है तथापि प्रकृत वार्तिक में **भाव** का अर्थ है- किसी क्रिया के करने में लगने वाला समय। जैसे **गोदोहमास्ते** (गोदोहन काल तक रहता हे) आदि में देखा जाता है। वार्तिक में **अकर्मक धातु** का ग्रहण किया गया है। अतः धातु के सकर्मकत्व और अकर्मकत्व के विषय में पहले समझना होगा। धातु के अर्थ में दो विभाग होते हैं- फल और व्यापार। **फलव्यापारयोर्धातुः (तिष्ठति)।** जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई क्रिया की जाती है, वह **फल** कहलाता है। फल की सिद्धि के लिए जो चेष्टा की जाती है, वह **व्यापार** कहलाता है। फल का आश्रय **कर्म** होता है तथा व्यापार का आश्रय **कर्ता** होता है। जिन धातुओं में फल और व्यापार के आश्रय भिन्न-भिन्न हों, उसे **सकर्मक** धातु कहते हैं और जिन धातुओं में फल और व्यापार का आश्रय एक ही होता है, उन धातुओं को **अकर्मक** धातु कहते हैं। विशेष ज्ञान के लिये भ्वादिप्रकरण के **लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः** सूत्र की व्याख्या देखें।

कुरून् स्वपिति। कुरुदेश में सोता है। यहाँ पर **स्वप्** धातु अकर्मक है। इसके योग में देशवाची **कुरु** शब्द में अधिकरण रूप की अविवक्षा होने से इसकी **अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसञ्ज्ञक इति वाच्यम्** वार्तिक से कर्मसञ्ज्ञा हो जाने से **कर्मणि द्वितीया** सूत्र से द्वितीया विभक्ति होकर **कुरून्** सिद्ध हो जाता है। वार्तिक में **देश** शब्द के ग्रहण से **ग्रामे स्वपिति** में अकर्मक धातु का योग होने पर ग्राम-शब्द के देशवानी न होने के कारण कर्मसंज्ञा नहीं होती। यहाँ देश-शब्द का अर्थ अनेक ग्राम, नगर आदि समूहात्मक देश ही विवक्षित है, सामान्य स्थानमात्र नहीं। यह देशवाचक शब्द का उदाहरण है।

मासमास्ते। महीने भर रहता है। यहाँ पर **आस उपवेशने** धातु का प्रयोग है और वह अकर्मक है। इसके योग में कालवाची **मास** में प्राप्त अधिकरणसंज्ञा को बाधकर इसकी **अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसञ्ज्ञक इति वाच्यम्** वार्तिक से कर्मसञ्ज्ञा हो जाने से **कर्मणि द्वितीया** सूत्र से द्वितीया विभक्ति होकर **मासम्** सिद्ध हो जाता है। यह कालवाचक शब्द का उदाहरण है।

गोदोहमास्ते। गाय दुहने के समय तक रहता है। यहाँ पर भी **आस उपवेशने** धातु का प्रयोग है और वह अकर्मक है ही। इसके योग में भाववाची **गोदोह** शब्द में प्राप्त अधिकरणसंज्ञा को बाधकर इसकी **अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसञ्ज्ञक इति वाच्यम्** वार्तिक से कर्मसञ्ज्ञा हो जाने से **कर्मणि द्वितीया** सूत्र से द्वितीया विभक्ति होकर **गोदोहम्** सिद्ध हो जाता है। यह भाव का उदाहरण है।

क्रोशमास्ते। कोस भर है। यहाँ पर भी अकर्मक **आस** धातु का प्रयोग है। इसके योग में गन्तव्यमार्गवाची **क्रोश** शब्द में प्राप्त अधिकरणसंज्ञा को बाधकर इसकी **अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसञ्ज्ञक इति वाच्यम्** वार्तिक से कर्मसञ्ज्ञा हो जाने से **कर्मणि द्वितीया** सूत्र से द्वितीया विभक्ति होकर **क्रोशम्** सिद्ध हो जाता है। अत्यन्त संयोग होने पर तो **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** से द्वितीया होती है। उसके न होने पर भी अकर्मक **आस्** धातु के योग में गन्तव्य मार्गवाची **क्रोश** शब्द की कर्मसंज्ञा हुयी है। यह गन्तव्याध्वा का उदाहरण है।